वर्ष : ३५ अंक : ०५ अगस्त २०११ मूल्य : ५०.०० रूपये

तित्थयर

॥ जैन भवन ॥

Courtesy :

मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय,
कर्म से ही वैश्य और कर्म से ही शूद्र होता है।

कमल सिंह करनावट
अध्यक्ष

विनोद चंद बोथरा
कोषाध्यक्ष

गौतम दूगड़
सचिव

जैन भवन

पी-२५, कलाकार स्ट्रीट
कोलकाता - ७०० ००७
फोन नं. : २२६८-२६५५, २२७२-९०२८
E-mail : jainbhawan@bsnl.in

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्रिका

वर्ष - ३५ अंक - ५ अगस्त २०११

लेख, पुस्तक समीक्षा तथा पत्रिका से सम्बन्धित पत्र व्यवहार के लिय प्रता - **Editor : Titthayar, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007**

Phone : 2268-2655, 2272-9028,

Email : jainbhawan@bsnl.in

विज्ञापन तथा सदस्यता के लिये कृपया सम्पर्क करें --

Secretary, Jain Bhawan, P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007

Life Membership : India : Rs. 5000.00. Yearly : 500.00

Foreign : $ 500

Published by Dr. Lata Bothra on behalf of Jain Bhawan from P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone : 2268-2655 and Printed by her at Arunima Printing Works, 81, Simla Street Kolkata - 700 007 Phone : 2241-1006

संपादन

डॉ. लता बोथरा,

॥ जैन भवन ॥

अनुक्रमणिका

क्र. सं.	लेख	लेखक	पृ. सं.
१.	श्रमण संस्कृति की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि	इसिभासियाइं	१४९
२.	मुगलकाल में जैन धर्म एवं आचाय	नीना जैन	१५९
३.	हरिश्चन्द्र-तारा		१६३

Composed by:
Jain Bhawan Computer Centre, P-25, Kalakar Street Kolkata - 700 007

श्रमणसंस्कृति की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

'इसिभासियाइं'

भारतीय संस्कृति अपने आप में एक विराट् समन्वय है। भारत जैसे विराट् देश में जहाँ कि करोड़ों मानव बसते हैं, सभी का एक विचार, एक आचार असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है, किन्तु जहाँ आचार और विचार की रेखाओं में विविधता लक्षित होती है, वहाँ विविधता में भी एकरूपता है। वह विविधता एक फुलवारी की विविधता है, जहाँ नानाविध पेड़ पौधे अपनी सौन्दर्य-सुषमा में निर्बाध अभिवृद्धि कर रहे हैं। यदि एक ही किस्म के पेड़ पौधें होगे तो विपिन की वह मनोहरता लक्षित न होगी जो विविधता में होती है। इसी अर्थ में हम भारतीय दर्शनों को एक सजा हुआ गुलदस्ता कहेंगे, जहाँ हर एक दर्शन-पुष्प अपनी विचार परम्परा का प्रतीक है। विविधता बुरी नहीं, बुरी चीज तो विविधता के आग्रह को लेकर एक-दूसरे के स्थान को हथियाने की चेष्टा करना, एक दूसरे को झूठलाना। अपने विचारों को ही सच्चा समझने के आग्रह के कारण, जब व्यक्ति दूसरे के विचार-वैभव को सह नहीं सकता और उसकी वैचारिक स्वतंत्रता का गला घोंटना चाहता है, तब उसमें जहरीली गैस घुस आती है, जो अपने व पराये सबको नष्ट कर डालती हैं।

साम्प्रदायिकता की प्राचीर में जिनके मानस कैद रहते हैं, और बाहर की हवा लगते ही जिनकी श्रद्धा लज्जावन्ती बन जाती हैं, उनके लिये वह विविध पुष्पों से सजा हुई गुलदस्ता महज एक जलते हुए अंगारे जैसा है। जिनकी विचारधारा ने सम्प्रदाय मोह के कारागृह से छुट्टी पा ली है सोचने और समझने के लिये दिमाग की खिड़कियां बंद नहीं हैं। वे जहां भी पहुंचते हैं जीवमधु पा ही लेते हैं। विचार मधुमक्षिका जहां भी पहुंचती है शहद की बूंदें ग्रहण करती हैं। इसीलिये अमृत के

आगार करुणा के स्रोत भगवान महावीर कहते हैं– 'जो मेघावी विचारशील ज्ञान की रोशनी लिये आगे बढ़ता है, उसके लिए विश्व का अणु-अणु श्रेय की ओर बढ़ने की प्रेरणा देने वाला है, उसके लिये मिथ्याशास्त्र भी सम्यक् शास्त्र है। वह जहां भी जाएगा अमृत की दृष्टि लेकर जाएगा और अमृत ही लेकर आएगा। और जो जहर को शोध करने चला उसे अमृत में भी हलाहल की बूंदें दिखलाई देंगीं। इतना ही नहीं, जीवनदायी अमृत भी जहर की लहर देने लगेगा। हमें अमृत का शोधक बनना है, उसी अमृत की खोज भारतीय सन्तों ने की है।'

भारत को ऋषियों की भूमि होने का गौरव प्राप्त है। जीवन और जगत् के विषय में जिसने जो भी खोज की है दर्शन के क्षेत्र में उसका अपना नया स्थान बन गया है। विभिन्न दर्शनकारों ने जीवन और जगत् के विषय में पृथक्-पृथक् विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने कहा गति और प्रगति का नाम जीवन है पर अनन्त-अनन्त विविधताओं-विचित्रताओं से भरा यह विश्व क्या है?

मैं कौन हूँ, इस विराट ब्रह्मांड़ में मेरा स्थान क्या है? इस गति और प्रगति का लक्ष्य क्या है? ये छोटी आँखें जो कुछ देख रही हैं वहीं सब कुछ है? या इससे भी परे कोई तत्त्व है? इस विराट विश्व का नियंत्रण सूत्र किन सशक्त हाथों में हैं?

मानव-मानस में घूमड़ते इन प्रश्नों का एक ने उत्तर दिया तू और कोई नहीं, इस विराट विश्व का एक झिलमिलाता सुन्दर बुलबुला है। तेरी यह मोहकता, तेरी यह कमनीयता इस महान प्रकृति की देन है। उसी के हाथों से तेरा निर्माण हुआ है। इसी असीम जलधि ने दो बूंद जल दे दिया और विशाल भूपिंड ने तेरा पुतला खड़ाकर दिया। वायु तुझे अहर्निश जीवन दे रही है, वनस्पति तेरा भोजन है, अनन्त आकाश तेरा आवास है, यहीं तेरे इस मिट्टी के जीवन की नपी-तुली परिभाषा है। कुछ क्षण तक हंस ले, खेल ले, तमाम भोग्यपदार्थों का निर्माण तरे लिये हुआ है, भोग, केवल भोग तेरे जीवन का साध्य है, अर्थ

तो साधन है और आखिर में तुझे इसी मिट्टी में समा जाना है, इससे परे तेरा कोई अस्तित्व नहीं है।

इस दर्शनकार को हम चार्वाक के नाम से पहचानते आये हैं। दृष्टिगत, दृश्य संसार ही इन्हें मान्य था, इसी को सजाना-संवारना उनका लक्ष्य है। इनके विचार से मानव वित्तैषणा और लोकेषणा का जीवित प्रतीक मात्र था। दूसरे शब्दों में आदमी रोटी दाल का केवल यंत्र मात्र है, कामना और उनकी पूर्ति जीवन लक्ष्य है।

दूसरे दर्शनाकार सामने आये। उन्होंने बतलाया जीवन एक शाश्वत तत्त्व है, मानव न केवल क्षणस्थायी पानी का बुदबुदा ही है, किन्तु उसमें ही अमरत्व के तार झंकृत हैं। साथ ही उन्होंने यह भी बतलाया कि जन्म के बाद जन्मान्तर और मृत्यु के बाद नया जन्म भी है और इस विश्व की व्यवस्था करने वाला कोई महान व्यवस्थापक है जिसके सुदृढ़ हाथों में विराट विश्व का नेतृत्व है। जीव तो उसका एक अणु है। उसी के इच्छाधीन होकर कार्य करता है, उसी के संकेतों पर कुछ समय के लिये भूतल पर आया है। वह सर्वशक्तिमान उसी की पूजा और अर्चना का प्यासा है। अपने जीवाणु के द्वारा की गई सेवा से वह प्रसन्न भी होता है। इसके अच्छे और बुरे कर्मों के आधार पर असुन्दर या वह सुन्दर लोक प्रदान करता है। उसकी प्रभुसत्ता सभी जीवों को स्वीकार करनी होगी। उसकी सत्ता के सामने जीव की सत्ता नगण्य है। जीव अपने नये स्थानचय के लिए स्वतन्त्र नहीं है। इस प्रकार उसने जीवन की अखंडता स्वीकार की।

परन्तु जीवन के शाश्वत तत्व को स्वीकार करने के दूसरे ही क्षण उसे परलोक भी स्वीकार करना पड़ा। उसने कहा हां, इस चक्षु की सीमा से परे भी कोई लोक अवश्य है, वह दो भागों में विभक्त है- एक इष्ट, दूसरा अनिष्ट। उसका कारण है जीवन की शुभाशुभ कार्य-परिणति। दूसरे शब्दों में शुभाशुभ कार्य-प्रणाली ही कर्म है।

पुनर्जन्म के लिये उसके कारणभूत कर्म को स्वीकार करना भी अपरिहार्य था। बिना इसके परलोक की कल्पना कैसे हो सकती थी। इसलिए इस लोक में परलोक तक पहुंचने के लिये कर्म का पुल बनाना ही पड़ा। इनका विधान रहा है कि श्रेष्ठ कर्मकर्ता को श्रेष्ठ लोक मिलेगा। उसी श्रेष्ठ लोक को स्वर्ग कहते हैं। उसकी प्राप्ति के लिए धर्म भी आवश्यक है। इसका धर्म शुभकर्म का अपर पर्याय ही है। अतः इस रूप में पुरुषार्थ की भी प्रगति होती है। पहले दर्शनकार ने केवल दो ही पुरुषार्थ को स्वीकार किया था, किन्तु यह काम और अर्थ के साथ धर्म-पुरुषार्थ भी स्वीकार करता है। प्रथम दो ऐहिक सुख के लिये, धर्म आगे आने वाले लोक के लिये। यह त्रिपुरुषार्थवादी दल मोक्ष को स्वतन्त्र पुरुषार्थ नहीं मानता था। उनकी विचारधारा यह रही है कि शुभ कर्म का फल स्वर्ग है और नरक अशुभ कर्म का प्रतिफल है। स्वर्ग और नरक से उसकी दृष्टि कभी आगे–बढ़ना ही नहीं जानती थी। जन्म और मृत्यु के चक्र का सर्वथा उच्छेद इनके विचार से असम्भव है। इनकी धर्म-अधर्म की परिभाषाएं भी समाज स्वीकृत मर्यादाओं तक सीमित थीं। अतः समाजमान्य प्रत्येक कार्य धर्म की कोटि में है। सभ्यता व समाज की रक्षा तमाम धार्मिक आचरणों में सर्वश्रेष्ठ है। समाज की रक्षा के लिए की गई हिंसाएँ भी धर्म की सीमारेखा का उल्लंघन नहीं करती। ईश्वर का ईश्वरत्व भी सामाजिक सुव्यवस्था में ही सुरक्षित रहता था। उसे भी समाज की शान्ति के लिये निज धम छोड़कर नीचे आना पड़ता था। दुष्टों का दलन, भक्तों का परित्राण उनकी यात्रा का लक्ष्य था।

इसे हम याज्ञिक या वैदिक मार्ग के नाम से पहचानते आये हैं। प्रवृत्ति उनका जीवनसाध्य रहा ह।

मनीषी विचारकों की चिन्तन-धारा जब आगे बढ़ती है। मनन के मन्थन से प्राप्त आत्मानुभूति के बल से उन्होंने बताया–माना कि

पुनर्जन्म का कारण कर्म अवश्य है। शुभ कर्म के द्वारा आत्मा स्वर्ग भी पा सकता है और अशुभ के द्वारा नरक भी। किन्तु हमें शुभ और अशुभ से ऊपर उठना होगा। शुभ के द्वारा आत्मा क्षणिक शान्ति पा लेता है किन्तु यह चक्र तो समाप्त नहीं हो गया। उस चक्र की समाप्ति के लिये जैसे अशुभ कार्य त्याज्य है वैसे शुभ को भी छोड़ना होगा और इसके लिये चौथा पुरुषार्थ सामने रखा गया, वह था मोक्ष। जिसके द्वारा तमाम कर्मों का उच्छेद कर आत्मा का शान्त सहज रूप पाना है और वहीं हमारे जीवन का एकमात्र साध्य सम्भव है और उसके लिये तमाम कर्मों का त्याग करना होगा, चाहे वे पुण्य रूप हो या पाप रूप। धर्म की सुहावनी मोहक छाया से आये हो या अधर्म की काली छाया से। पथिक का आदर्श लक्ष्य पर पहुंचना है। राह में विगम कहां! मार्ग फूलों का हो तो भी चलना है, कांटों का है तब भी चलना है; पर हां, फूलों पर फिसलन है और काटों में चुभन। विश्रान्ति के लिये लक्ष्य पर पहुंचना होगा। अनन्त युगों के यात्री-आत्मा का शान्तिभवन मोक्ष है, इसीलिए मोक्ष पुरुषार्थ हमारा साध्य है और धर्म उसका साधन। यह निर्वाणवादी दर्शन की भूमिका है, जो कि मानव-मन को स्वर्ग और नरक के फूलों और शूलों से बचाकर पवित्रता के पथ पर अग्रसर करती हैं।

निवृत्तिवादी दर्शनकार ने साधक को प्रेरित किया है तू अपने लक्ष्य की सही दिशा में दृढ़ता से पग धरता जा मार्ग के फूलों और कांटों में तुझे उलझना नहीं है। कांटों में उलझनेवाला यदि राह भुला रहा है तो फूलों की मुस्कान में बिंध जानेवाला भी लक्ष्य की ओर कदम बढ़ाने वाला नहीं है। कांटों से बिंधने वाला कम से कम मधुरिमा को भुला देना कांटों पर चलने से भी कठिन हो जाता है। सूत्रकार ने राग और द्वेष की तुलना में राग को प्रगति की सबसे बड़ी बाधक चट्टान बताया है। राग और द्वेष दोनों पर विजय पाने वाले को इसीलिए तो वीतराग कहा जाता है।

किन्तु ध्येय-सिद्धि के लिये हमें फूल और कांटे दोनों को भुला देना होगा। बेड़ी लोहे की तब भी बन्धन है, बन्धन तो कहीं नहीं गया। पर हां, पहली हाथों को बांधती है तो दूसरी हाथों के साथ हृदय को भी बांध लेती। स्वतन्त्रता की हवा में सांस लेने के लिये दोनों को तोड़ फेंकना होगा। किन्तु साथ ही यह भी समझ लेना होगा कि लोहे की बेड़ी चोरी का दंड है तो सोने की कंगन सज्जनता का उपहार है। लोहे की बेड़ी में पराधीनता की कसक है। किन्तु हां, कभी-कभी के तारों को तोड़ फेंकने वाला रेशमी तारों में बंध जाता है। अनंत गगन में स्वच्छन्द विचरने वाले विहग के लिये पिंजरा उसकी उड़ान में बाधक ही है। आत्म स्वातन्त्र्य के इच्छुक को पुण्य और पाप दोनों से बचना होगा साधक की साधना केवल आत्मशोधन के लिये ही है। उसके मन को न दिव्य लोक की गुलाबी प्रभा मुग्ध कर रही हो नरक से उसके प्राण कांप रहे हों। इसीलिये शान्ति के अवतार भ. महावीर साधक को भय और प्रलोभन से मुक्त रहकर साधना करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं :–

'नो इह लोगट्ठयाए तब महिट्ठिज्जा, नो पर लोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा। नो वण्ण-कित्ति सद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा नन्नत्थ एगन्त निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।'

दशवैकालिक सूत्र अ. 9, उ 4, तपसमाधिः।

एक शब्द में कहूं तो स्वर्ग और नरक की भय प्रलोभन जन्य छाया से साधक का मानस मुक्त रहे। उसकी तपःसाधना का केन्द्र न यह लोक रहे न परलोक। न यहां के भौतिक पदार्थों को पाने के लिये वह तपःसाधना करे, न अगले लोक में मिलनेवाली स्वर्ग की परियों के लिये ही वह संयम साधना करे। लोक और परलोक की भावना से ऊपर उठकर लोकोत्तर-साधना में प्रवृत्त हो।

निवृत्तिवादी दर्शन के पास धर्म की स्वतन्त्र परिभाषा है। उसपर उसका अपना निजी चिन्तन है, मनन है। समाज की स्वीकृति ही किसी

भी कार्य को धर्म का चोगा नहीं पहना सकती। समाज की हां और ना उसकी अपनी स्वार्थिक एषणाओं की प्रतिध्वनियां हैं। उसका धर्म उसकी परंपराओं के पाश में बद्ध है। जहाँ तक उसी सामाजिक लोह शृंखलाओं के बन्धन को मान्य रखकर व्यक्ति चलता है तब तक उसे वह धर्म की संज्ञा देता है, जहाँ किसी ने उसकी मार्मिक दुर्बलताओं की ओर इंगित किया, तो वह उसे शीघ्र ही अधर्म का करार दे देगा। जहां व्यक्तियों का दम घोटनेवाली गली सड़ी रस्सियों को तोड़ने के लिये किसी ने करवट ली, समाज उसे विद्रोही कहेगा उस पर पापी और अधर्मी की मुहर लगा देगा। किसी स्वस्थचेता मानस द्वारा–जिसकी कि दिल दिमाग की खिड़कियां खुली हैं–और जिसकी आत्मा छिपे पाप के प्रति विद्रोह कर उठती है और उसकी वाणी या लेखनी द्वारा समाज की पाप कहानी के नग्न चित्र उतरने लगते हैं तो समाज चीख पड़ती है-यह गद्दार है। इसने समाज की सुदृढ़ भित्तियों पर क्रूर प्रहार किये हैं। यह समाज की फुलवारी में आग का कार्य कर रहा है और समाज के अधिनायक उसे समाज में से उसी भांति निकल फेंकते हैं, जैसे दूध में पड़ी मक्खी को फेंक दिया जाता है। यह पुरस्कार है उसकी विद्रोही आत्मा का जो समाज की पाप कहानी के प्रति अंधा, गूंगा और बहरा नहीं बन सका है। यह दंड है उस चिकित्सक का जिसने फोड़े को नुकीली सुई से बींध दिया और भीतर सड़ने वाला मवाद बाहर आ गया।

सच तो यह है अधर्म की जड़ें सामाजिक इन्कार और स्वीकार में नहीं, मिथ्याभिनिवेश, राग और द्वेष में है। हमारा कार्य कितना भी मोहक क्यों न हो, समाज स्वीकृति की मुहर भी क्यों न लग चुकी हो, किन्तु यदि उस कार्य के पीछे वैयक्तिक स्वार्थ झांक रहा हो राग और द्वेष से छानकर उसकी अनुभूति आ रही हो तो वह अधर्म ही कहा जायेगा। फिर भले उस पर कितने ही शास्त्र-वाक्यों के पर्दे ही क्यों न पड़े हो चांदी और सोने के आवरण से उसे क्यों न ढक दिया गया हो। पारदर्शी की आंखें उन सोने और सूत्रों के पर्दे को चीरकर छुपे पाप

को खोज ही लेगी और उसके कान पाप की करुण कसक को चांदी की खनखनाहट और शास्त्र रटन के महा घोष में भी सुन ही लेंगे। वस्तुतः पुण्य और पाप की तमाम क्रियाओं के पीछे यदि अज्ञान बोल रहा हो तो वे क्रियाएं जीवन पथ विधायिनी नहीं बन सकती।

ऋषिभाषित एक दार्शनिक ग्रन्थ नहीं एक आध्यात्मिक सूत्र है। इसमें दर्शन की नहीं जीवन की उलझी गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया गया है।

प्रत्येक धर्म में ऐसे विचारक सन्त भी आते हैं जिन्हें संप्रदायवाद की लोहश्रृखलाएं बांध नहीं पाती हैं। जो रहते तो संप्रदाय में ही हैं, पर उनका चिन्तन संप्रदायातीत होता है। आंखें शरीर के विशेष भाग में रहकर भी शरीर और शरीर से अतिरिक्त वस्तुओं को देखती हैं। स्थूल चक्षु के लिये यह संभव है कि शरीर से भिन्न वस्तु को भी देखे। उसके लिये किसी का विरोध भी नहीं है पर अन्तश्चक्षु की कहानी कुछ दूसरी होती है। यदि अन्तश्चक्षु खुले हैं तो वह दूसरे धर्म का भी वैसा ही सत्य निरीक्षण करेगा जैसा कि अपने धर्म का करता है। पर निरीक्षण की सत्यता की पहली शर्त है आंखें खुली हों। जो आंखें खुली रखकर चलता है वह टकराता नहीं है। मार्ग के अवरोधक पदार्थों को वह देखेगा जरूर, पर उनसे लड़ने भिड़ने को तैयार न होगा, उनके बचकर ही निकलने की उसकी चेष्टा रहेगी। धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में भी यही बात है जो आंखें मूंदकर चलते हैं उन्हीं में टक्कर और संघर्ष होते हैं। जिन संप्रदायों और जिन पार्टियों के बीच जितने ज्यादा संघर्ष होंगे वह उतना आंख मूंदकर चलनेवालों का समुदाय होगा।

तत्त्व-चिन्तन विरोध में अविरोध पाता है। इसी विशाल दृष्टि के द्वारा वह संतवृत्ति पाता है। हजारों वर्षों से साथ बहनेवाली भारत की तीन संस्कृतियों के तत्व चिन्तकों की अविरोध दृष्टि का परिचय ऋषिभाषित में मिलता है। प्रस्तुत सूत्र में जहां कुर्मापुत्र, तैतिलपुत्र जैसे

जैनदर्शन के तत्व चिन्तक हैं तो अंगिरस और देवनारद वैदिक दर्शन के लब्धप्रतिष्ठ ऋषि भी आये हैं। पिंग और इसिगिरि जैसे ब्राह्मण परिव्राजक आये हैं तो साति-पुत्त जैसे बौद्ध भिक्षु भी आये हैं। पिंग और इसिगिरि के साथ माहण परिव्वायेण का विशेषण है जो उनके ब्राह्मण वंश का परिचायक है। सातिपुत्त के साथ बुद्धेण अरहता विशेषण उनके बुद्धानुयायित्व का संसूचक है।

इस संकलन से यह परिलक्षित होता है कि संप्रदायवाद के संघर्ष के युग में एक धारा वह भी आई थी, जिसने संप्रदाय से ऊपर उठकर सोचा था। संप्रदाय भेद होने पर भी तत्त्व चिन्तन में जहां एकरूपता पाई गई उन सभी ऋषियों के उपदेशों को तत् तत् विशेषणों के साथ संगृहीत किया गया। यह सांप्रदायिक उपनाम भेद दर्शन के लिये था। साथ ही यह इस बात का प्रतीक है कि संप्रदायिक भेद होने पर भी तत्वज्ञों के तत्वज्ञान में एकरूपता कैसे संभवित हो सकती है। विचार की नीची भूमिका तक उसमें विरोध और विभेद पाये जाते हैं पर जब चिन्तक विचार की अमुक सीमा पार कर जाता है तो उसके चिन्तन में एकरूपता संभावित हो सकती है। फिर वेश और संप्रदाय उसे अपने में बांधकर रख नहीं सकते। यह ज्यों-ज्यों ऊपर उठता है त्यों-त्यों पंथ, जाति, लिंग और वेश की दीवारें एक-एक करके ढहती जाती हैं और एक दिन वह सबका हो जाता है सब उसके हो जाते हैं। यही कारण है भगवान ऋषभदेव को हम प्रथम अर्हत् के रूप में पूजते हैं तो वैदिकदर्शन उन्हें ऋषभावतार के रूप में देखता है।

जैन संस्कृति यद्यपि आज पंथ और वेश की श्रृंखलाओं में जकड़ दी गई है फिर भी एक दिन उसका स्वर पंथ और वेश पूजा के विरोध में जाग्रत था। उसने वेश-पूजा नहीं गुण-पूजा का महत्व स्वीकार किया था। इसीलिये आत्म विकास की सर्वोत्तम श्रेणी (स्टेज) पर पहुंचने के लिये उसने पंथ और जाति का कोई आग्रह ही न रखा। उसने यह नहीं कहा क्षत्रिय ही मोक्ष पा सकता है, वैश्य नहीं या ब्राह्मण

ही मोक्ष पा सकता है, शूद्र नहीं। सभी वर्ण और सभी वर्ग के व्यक्ति मोक्ष के अधिकारी हैं। उसने यह भी नहीं कहा कि तुम अमुक वेश धारण करो तभी मुक्ति पा सकोगें या अमुक पंथ में दीक्षित हुए बिना या अमुक प्रकार के विशेष अर्चन पूजन या क्रियाकाण्ड किये बिना तुम्हें मोक्ष नहीं मिल सकेगी। वह यह नहीं पूछता तुम किस संप्रदाय में दीक्षित हुए हो या किसके शिष्य हो? तुमने कितने वर्ष संयम पाला है? वह तो पूछता अन्तःशुद्धि तुमने कितनी पाई है? यदि अन्तःशुद्धि आ गई है तो गृहस्थ दशा में भी मोक्ष के अधिकारी हो और अन्तःशुद्धि नहीं है तो मुनि वेश में भी मुक्ति नहीं है। यही कारण है कि मरुदेवी-माता गृहस्थ रूप में मुक्त हुई है। सम्राट् भरत चक्रवर्ती के रूप में ही कैवल्य पा गये। भगवान् महावीर के शिष्यों में एक ओर गौतम जैसे श्रमण थे तो दूसरी ओर आनंद जैसे उपासक हैं तो अंबड़ जैसे परिव्राजक, के रूप में उनके शिष्य थे। चक्रवर्ती भरत के पुत्र मरीचि कुमार त्रिदंडी के रूप में भगवान ऋषभदेव के शिष्य थे।

वेश और पंथ की सीमा तोड़कर आत्म–दृष्टि प्राप्त करनेवालों का समन्वय हम ऋषिभाषित में पाते हैं।

मुगलकाल में जैन धर्म एवं आचार्य परम्परा

नीना जैन

कुमारपाल की अहिंसक नीति का यह दूरगामी परिणाम है कि वर्तमान में सबसें अहिंसक प्रजा गुजरात में ही है।

जैन धर्म की शिक्षा का राजा पर जो सबसे बड़ा प्रभाव दिखाई देता है वह यह कि उसने निःसंतान मरने वालों की सम्पत्ति पर अधिकार करने का राजनियम वापिस ले लिया था। 'कीर्ति कौमुदी' में इसका वर्णन मिलता है।[1]

कुमारपाल चरित्र संग्रह में भी इसका उल्लेख है कि प्रजा के इस दुःख को राजा सहन न कर सके और उन्होंने अपने अधिकारियों से कहा—निष्पुत्र मनुष्य की मृत्यु के बाद उसकी सम्पत्ति राज्य ले लेता है, यह अत्यन्त दारुण नियम है, इससे प्रजा बहुत पीड़ित होती है। इसलिए यह नियम बन्द करो, चाहे भले ही मेरे राज्य की उपज में लाख दो लाख तो क्या, करोड़ दो करोड़ का ही घाटा क्यों न हो जाये। अधिकारियों ने राजाज्ञा को मस्तक पर चढ़ाया और उसी क्षण सारे राज्य में यह लागू कर दिया गया। जिससे प्रजा के हर्ष का पार नहीं रहा।[2]

इस तरह राजकोष में प्रतिवर्ष आने वाले करोड़ों रुपयों की परवाह न करके कुमारपाल ने इस प्रथा का निषेध कर दिया।

इस तरह प्रचलित कुप्रथाओं के बारे में कुमारपाल ने हेमचन्द्राचाय

---

1. सुकृतैकृतर्यस्य मृत वित्तनिमुन्यतः।
देवस्येव नृदेवस्य युक्ताभूद मृतार्थिता।
कीर्ति कौमुदी सर्ग 2 श्लोक 4

2. कुमारपाल चरित्रसंग्रह—जिनविजय मुनि पृष्ठ 17

से कई कथायें सुनी थी स्वयं भी इसके कुपरिणाम देखे थे, अतः इनके दुष्परिणामों से प्रजा को बचाने के लिए राजाज्ञाएं निकाली।

इस तरह हेमचन्द्राचार्य के प्रतिबोध द्वारा कुमारपाल पर जो प्रभाव पड़ा उसके सार रूप में हम कह सकते हैं कि कुमारपाल की अमारि घोषणा द्वारा यज्ञों में भी पशु बलि देना बन्द हो गया। लोगों की जीव जाति पर दया बढ़ी। माँस भोजन इतना निषिद्ध हो गया कि गुजरात में उसकी गन्ध भी लग जाये तो उसी समय लोग स्नान करते। ऐसी वृत्ति उस समय से लोगों की बनी हुई आज तक चली आ रही है। प्रायः गुजरात का सम्पूर्ण उच्च और शिष्ट समाज निरामिष भोजी है। गुजरात का प्रधान किसान वर्ग भी मांस त्यागी है। कुमारपाल के काल में गुजरात श्वेताम्बर जैन धर्म का सबसे बड़ा केन्द्र था। श्रीलक्ष्मीशंकर व्यास लिखते हैं— 'महर्षि हेमचन्द्र के काल में गुजरात में जैन धर्म की स्थिति अत्यधिक सुदृढ़ ही न हुई अपितु कुछ समय के लिए यह राजधर्म भी बन गया।[1]'

सल्तनत युग—

यदि हम सल्तनतकालीन इतिहास पर एक दृष्टि डालें, तो पता चलता है कि तत्कालीन सुल्तानों पर भी जैनाचार्यों ने प्रभाव डाला इन सुल्तानों में मुहम्मद तुगलक, फिरोज तुगलक और अलाउद्दीन खिलजी के नाम प्रमुख हैं, और आचार्यों में जिनप्रभ सूरि, जिनदेवसूरि और रत्नेश्वर सूरिजी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय है। जिस तरह ईसा की 16वीं शताब्दी में मुगल सम्राट अकबर के दरबार में जैन जगदगुरु हीरविजयसूरि ने शाही सम्मान प्राप्त किया था उसी तरह जिनप्रभसूरि ने भी 14वीं शताब्दी में तुगलक सुल्तान मुहम्मदशाह के दरबार में बड़ा गौरव प्राप्त किया था। भारत के मुसलमान बादशाहों के दरबार में जैन धर्म का महत्व बतलाने वाले और उसका महत्व बढ़ाने वाले शायद पहले ये ही आचार्य हुए।

---

1. चौलुक्य कुमारपाल—श्रीलक्ष्मीशंकर व्यास पृष्ठ 216

कहा जाता है कि सन् 1329 में बादशाह मुहम्मद तुगलक ने अपनी सभा में पूछा कि वर्तमान समय में विशिष्ट पंडित कौन है? जोशी धराधर द्वारा जिनप्रभसूरि का नाम बताये जाने पर बादशाह ने उन्हें सम्मानपूर्वक आमन्त्रित किया। सूरिजी के आने पर बादशाह ने उनसे एकान्त में धार्मिक चर्चायें की। बादशाह सूरिजी के तत्व ज्ञान से बहुत प्रभावित हुआ और पूछा कि मेरे लिए कोई सेवा हो तो बतायें। उस समय जैन तीर्थों की जो दुर्दशा हो रही थी सूरिजी ने उनकी रक्षा के लिए कहा। बादशाह ने उसी समय शत्रुन्जय, गिरनार, फलोदी आदि तीर्थ रक्षा का फरमान लिख दिया।[2]

तुगलकाबाद में राजमहल के आगे भगवान महावीर की प्रतिमा उल्टी रखी हुई थी। सूरिजी के मांगने पर बादशाह ने सभासदों के सामने सूरिजी को प्रतिमा सौंप दी तथा सूरिजी ने उसे श्रावकों को समर्पित कर दिया।[3]

सूरिजी ने विभिन्न तीर्थों का उद्धार कर जैन शासन की प्रभावना की। मथुरा को मुक्त कराया। ब्राह्मणों, गरीबों को दान देकर सन्तुष्ट किया।[4]

बादशाह के दरबार में सूरिजी का विशेष प्रभाव देखकर कुछ पंडितों को सूरिजी से ईर्ष्या होने लगी। एक किवन्दन्ती है कि राधव नामक एक पंडित ने सूरिजी को नीचा दिखाने के लिए अपने मन्त्रबल द्वारा बादशाह की ऊंगली से अंगूठी निकालकर सूरिजी के ओधे (रजोहरण) में रख दी। तब सूरिजी ने अपने मन्त्रबल द्वारा उसे पंडित की पगड़ी में रख दी। जब बादशाह ने अपनी अंगूठी के बारे में पूछा तो पंडित ने कहा कि सूरिजी के ओधे (रजोहरण) में है। सूरिजी ने

---

1. चौलुक्य कुमारपाल—श्रीलक्ष्मीशंकर व्यास पृष्ठ 216
2. विविध तीर्थकला—जिनप्रभसूरि पृष्ठ 46
3. खरतरगच्छ वृहद गुर्वावलि—श्रीजिनविजयजी पृष्ठ 96
4. खरतरगच्छ वृहद गुर्वावलि—श्रीजिनविजयजी पृष्ठ 95

कहा कि अंगूठी ओघे में न होकर पंडित की पगड़ी में है बादशाह के कहने पर जब पंडित ने पगड़ी उतारी तो उसमें अंगूठी निकली। इस घटना का विवरण खरतरगच्छ वृहद गुर्वावलि[1] और जिनप्रभसूरि अने सुल्तान मुहम्मद[2] में भी मिलता है इस तरह से अपने व्यक्तित्व द्वारा बादशाह के दरबार में सूरिजी ने अपने चमत्कारों द्वारा बादशाह को प्रभावित किया। श्री जिनपाल उपाध्याय ने बादशाह व सूरिज़ी के बारे में कहा है कि—

"विजयतां जिन सासनमुज्जलं, विजयतां भुवधिपल्लभा वियतां भृवि साहि महम्मदो, विजयंता, गुरूसूरिजिनप्रभ[3] जिनप्रभसूरिजी के अलावा 'जिनप्रभसूरि अने सुल्तान मुहम्मद' नामक पुस्तक में कई अन्य जैनाचार्यों के नाम मिलते हैं— जिनमें गुणभद्रसूरि, मुनिभद्रसूरि, महेन्द्रसूरि, रत्नेश्वर आदि के नाम उल्लेखनीय है इन्होंने भी अपने-अपने व्यक्तित्व द्वारा तत्कालीन बादशाहों पर प्रभाव डाला।"

इस तरह हम कह सकते हैं, कि जैनाचार्यों ने केवल मुगलकाल में ही नहीं अपितु प्राचीनकाल से ही तत्कालीन बादशाहों को प्रतिबोधित कर उस समय में समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर कराने में सहयोग दिया।

---

1. वही पृष्ठ 95
2. जिनप्रभसूरि अने सुल्तान मुहम्मद पृष्ठ 141, 142
3. खरतरगच्छ वृहद गुर्वावलि पृष्ठ 96

हरिश्चन्द्र तारा

काशी की ओर से एक विमान आ रहा है, और सम्भव है, कि उसी विमान में महाराजा हरिश्चन्द्र और पुत्र सहित महारानी तारा हों, इस अभिलाषा से सारे नगर निवासी काशी के मार्ग की ओर दौड़ चले। स्त्रियाँ सोने के थालों में मंगल-द्रव्य सजाकर, हरिश्चन्द्र और तारा के मंगल गीत गाती जा रही हैं और पुरुष, उच्चस्वर से जयघोष करते जा रहे हैं। विमान को देखकर, सारे नगर निवासी उसी प्रकार उमड़ पड़े और उसी प्रकार कोलाहल करने लगे, जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा को देखकर समुद्र।

उधर विमान में महाराजा हरिश्चन्द्र इन्द्र को अयोध्यापुरी बतलाते हुए कह रहे हैं, कि यहीं वह अयोध्या है, जिसमें जन्म धारण करने को देवता लोग भी लालायित रहते हैं। यहाँ के नर-नारी मुझे बहुत ही प्रिय है। अयोध्या के सन्मुख मेरी दृष्टि में स्वर्ग भी तुच्छ है। एक तो अयोध्या पूरी प्राकृतिक कारणों से ही रम्य है, दूसरे, इसी नगरी में भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों ने जन्म धारण किया था और तीसरे यह अयोध्यापुरी उस मृत्युलोक में है, जहाँ पुण्योपार्जन के कार्य किये जा सकते हैं। इन सब कारणों से अयोध्या बहुत ही प्रशंसनीय-स्थल है।

हरिश्चन्द्र की बात के उत्तर में, इन्द्र कहने लगे, कि वास्तव में अयोध्या ऐसी ही है। अयोध्या की जितनी भी प्रशंसा की जाय, वह कम है। मैं इन्द्र होकर भी इस अयोध्या का ऋणी हूँ।

इस प्रकार बातचीत करते हुए, विमान में बैठे-बैठे सब लोग अयोध्या के समीप आये। नगर के बाहर, प्रजा को एकत्रित और विमान की ओर दृष्टि किए हुए देख, हरिश्चन्द्र इन्द्र से कहने लगा–महाराजा,

अब मेरी विमान पर रहना उचित नहीं है। अवध की प्रजा मेरी प्रतीक्षा में भूमि पर खड़ी है और मैं आकाश में रहूँ, यह सर्वथा अनुचित है। इसके सिवा, हम मनुष्य नभचर नहीं, किन्तु भूमिचर हैं। हमें तो भूमि पर रहने से ही आनन्द आता है।

इन्द्र की आज्ञा से, विमान भूमि पर उतरा। विमान में हरिश्चन्द्र और रोहित सहित तारा को देखकर, प्रजा को वैसा ही आनंन्द प्राप्त हुआ, जैसा आनन्द गोताखोर को डुबकी लगाने पर रत्न मिल जाने से होता है। अपनी प्यारी-प्रजा को, बहुत दिनों के पश्चात् देखने के कारण, हरिश्चन्द्र और तारा को भी वैसी ही प्रसन्नता हुई, जैसी प्रसन्नता दिनभर से बिछुड़े हुए बच्चे को पाकर, माँ को होती है।

विमान में से, हरिश्चन्द्र तारा और रोहित के उतरते ही, प्रजा ने उनपर वस्त्राभूषणादि न्योछावर किये और पुष्पों की वृष्टि के साथ-साथ गगनभेदी जयनाद किया। पुरुषों ने हरिश्चन्द्र को, स्त्रियों ने तारा को और बालकों ने रोहित को, चारों तरफ से घेर लिया। स्त्री-पुरुष, तारा और हरिश्चन्द्र के चरणों में गिर-गिरकर उन्हें प्रणाम करने लगे। पृथ्वी पर पड़े हुए लोगों को उठा-उठाकर राजा तथा रानी, अपने कण्ठ से लगाने लगे और उनसे कुशल प्रश्न करने लगे। परन्तु, प्रेम-मग्न प्रजा, उस समय इनके कुशल प्रश्न-उत्तर, सिवा आँखों से आँसू बहाने के, और कुछ न दे सकी। हृदयरूपी सरोवर से, प्रेमरूपी चल को, नेत्रों द्वारा बाहर निकालकर, सब स्त्री-पुरुष, तारा और हरिश्चन्द्र के चरणों को, इस प्रकार सिंचन करने लगे, जैसे उनके द्वारा किये गये कुशल प्रश्न का उत्तर दे रहे हों।

हरिश्चन्द्र के मिलने से, प्रजा को जो आनन्द हुआ, वह अवर्णनीय है। हरिश्चन्द्र को लौट आने की खुशी में, सबने यथाशक्ति दान दिया। स्त्रियाँ भी तारा को पाकर प्रसन्न हो उठी और तारा से कहने लगीं, कि

आपने ऐसे आपद्काल में पति के साथ जाकर, स्त्री जाति का मुख उज्जवल कर दिया। वास्तव में आप स्त्री जाति को कलंक से बचाने के लिए ही पति के साथ कष्ट सहन करने को गई थीं।

प्रजा का ऐसा प्रेम देखकर, इन्द्रादि सब देवता, प्रजा और हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करने लगे। विश्वामित्र ने, राजा को राजमहल में ले चलने के लिए, प्रजा को संकेत किया। विश्वामित्र के संकेतानुसार, हरिश्चन्द्र, तारा और रोहित को लेकर, प्रजा राजमहल की ओर चली। इन्द्रादि सब देवता और विश्वामित्र भी साथ ही साथ राजमहल को चले।

हरिश्चन्द्र के आने की आशा से, नगरवासियों ने नगर को तो पहले से ही सजा रखा था। स्थान-स्थान पर सुन्दरता बढ़ाने और स्वागत प्रदर्शित करनेवाली वस्तुएँ लगाई गई थीं। नगर में, चारों और सुगन्धित पदार्थ इस तरह उड़ रहे थे, और उनसे वातावरण ऐसा हो रहा था, मानों कुहरा गिर रहा हो। इस सजाये हुए नगर में, प्रजा ने एक जलूस बनाकर राजा, रानी और रोहित आदि को घुमाया और फिर उन्हें राजमहल को ले गये। वह राजमहल, जो महाराजा हरिश्चन्द्र के बिना एक विशेष समय से सूना था, आज महाराजा हरिश्चन्द्र के उसमें पदार्पण करने से सुशोभित हो उठा। जिस सूने राजमहल को देख-देख कर प्रजा दुःख किया करती थी, उसी राजमहल में आज राजा, रानी और रोहित के पुनः पधार जाने से, प्रजा को अपार आनन्द हुआ।

पुनः राज्य-प्राप्ति :

महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा आदि के राजमहल में पहुँचने पर विश्वामित्र ने फिर हरिश्चन्द्र से कहा, कि अब आप राज्यासन को सुशोभित कीजिए। आपके बिना यहाँ की प्रजा बहुत व्याकुल थी। अतः राज्यासन पर विराजकर, इसके दुःख दूर कीजिए।

हरिश्चन्द्र–महाराज, यह राज्य आपका है, मेरा नहीं! मैं, इसे आपको दान में दे चुका हूँ। दान में दी हुई वस्तु पर अब मेरा कोई अधिकार नहीं है। हम, इन्द्र की आज्ञा और आपकी बात मानकर यहाँ आये हैं, अन्यथा जिस राज्य को हम दानकर चुके थे और जिसमें न रहने की हमें आज्ञा हुई थी, उस राज्य में पैर रखने का भी हमें कोई अधिकार न था। प्रजा ने, मुझे देख लिया और मैंने प्रजा के दर्शन कर लिये, यही आप की कृपा बहुत है। प्रजा यदि दुःखी है, तो राजा होने के कारण इसका उत्तरदायित्व आप पर है, मुझ पर नहीं।

हरिश्चन्द्र का यह उत्तर सुनकर, प्रजा बहुत दुःखी हुई। वह हरिश्चन्द्र से राज्य-भार ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगी। हरिश्चन्द्र ने प्रजा समझाते हुए कहा, कि मैं इस राज्य को दान कर चुका हूँ, अतः फिर ग्रहण नहीं कर सकता।

अल्पबुद्धि प्रजा हरिश्चन्द्र के इस कथन से निरुत्तर हो चुपचाप आँसू बहाने लगी। तब इन्द्र ने हरिश्चन्द्र से कहा, कि आप मुझसे यह बात कह चुके हैं, कि मैं दूसरे के हित के कार्य करने के लिए प्राणपण से तैयार हूँ। अतः मैं प्रजा से यह प्रश्न करता हूँ, कि उसका हित विश्वामित्र के राजा रहने से है, या आपके।

इन्द्र के उपरोक्त प्रश्न करने पर प्रजा ने एक स्वर से कहा कि हमारा हित महाराजा हरिश्चन्द्र के राज्य करने से ही होगा। हमें, जो सुख इनके राज्य में मिला था और भविष्य मे मिलने का विश्वास है, वह सुख, विश्वामित्र के राज्य में कभी स्वप्न में भी नहीं मिला और न भविष्य में मिलने की आशा ही है।

प्रजा का उत्तर सुनकर, इन्द्र फिर महाराजा हरिश्चन्द्र से कहने लगे–प्रजा आपसे प्रसन्न है और आपके राज्य करने से सुख की आशा करती है। ऐसी दशा में, प्रजा की इच्छा के विरुद्ध और वह ऐसे समय

में, जब कि विश्वामित्र स्वयं ही आपसे राज्य ले लेने का आग्रह कर रहे हैं, राज्य न लेना कदापि उचित नहीं है। प्रजा आपसे सुख की आशा करती है, अतः आपको यही उचित है, कि आप उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करें।

हरिश्चन्द्र— परन्तु आप ही कहिए, कि जो वस्तु दान में दी जा चुकी है, क्या उसे फिर लौटा लेना उचित है?

इन्द्र—आपका यह कथन यथार्थ है, परन्तु मैं पहले ही कह चुका हूँ, कि राज्य करके राज्य सुख भोगना एक बात है और प्रजा पर शासन करके दुष्टों से उसकी रक्षा करना, तथा उसे सुख-समृद्धि सम्पन्न बनाना, दूसरी बात है। आपको यह दूसरी बात करने के लिए कहा जाता है, पहली बात के लिए राज्य नहीं सौंपा जा रहा है। इसके सिवा, राज्य को दान में आपने दिया है, कुमार रोहित ने नहीं। विश्वामित्र, अपना राज्य, कुमार रोहित को देते हैं। रोहित को विश्वामित्र का दिया हुआ राज्य लेने में कोई हर्ज नहीं है। रोहित जब तक छोटा है, राज्यभार वहन नहीं कर सकता, तब तक उसकी ओर से उसके अभिभावक होने के कारण आप राज्य कीजिए। और जब रोहित राज्यभार वहन करने के योग्य हो जावे, तब आप उसका राज्य उसे सौंप दीजिए। सारांश यह कि आपको दोनों तरह से राज्य लेना पड़ेगा। यदि आप यह कहें कि हम दान में दी हुई वस्तु में से खावें-पीवें कैसे, तो उसका उत्तर यह है, कि संसार में कोई भी मनुष्य बिना खायें-पिये काम नहीं कर सकता। आप बिके हुए थे, तब भी क्रयी स्वामी के यहाँ का अन्न खाया ही होगा। उसी प्रकार यहाँ भी काम कीजिए और खाइए-पीजिए। प्रजा आपके बिना कितना दुःख पा रही है, इस बात को विचारिए। अब, इसे दुःख-मग्न ही रहने देना, आप जैसे सत्यवादी के लिए उचित नहीं है।

इन्द्र, विश्वामित्र, प्रजा और अपने कष्टदाता देव आदि के समझाने-बुझाने तथा अनेक अनुनय-विनय करने पर, विवश होकर हरिश्चन्द्र ने, रोहित के वयस्क होने तक राज्य सम्हालना स्वीकार किया। ऐसा करके उन्होंने मानों भविष्य के लिए यह आदर्श रखा हो, कि इसी प्रकार से हमारे वंशज भरत, अपने बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजी की अनुपस्थिति में, अयोध्या का राज्य सम्हालें। हरिश्चन्द्र के राज्य स्वीकार करते ही, सारी प्रजा आनन्द-मग्न हो गई। हरिश्चन्द्र और तारा के जयघोष से सारा राजमहल गूँज उठा।

अयोध्या से, काशी को रवाना होते समय ही, विश्वामित्र, मंत्रियों को राज्याभिषेक की सामग्री प्रस्तुत रखने की आज्ञा दे गये थे। तदनुसार, राज्याभिषेक की सारी सामग्री लाकर, सिंहासन के समीप रखी गई। विधि सहित हरिश्चन्द्र, तारा और कुमार रोहित को राजसी वस्त्रालंकारों से अलंकृत किया गया अवध का वह राजमुकुट, जो हरिश्चन्द्र से त्यागे जाने पर यों ही रक्खा हुआ था, हरिश्चन्द्र के मस्तक पर पुनः शोभा पाने लगा। यह सब कुछ हो जाने पर, रानी और कुमार सहित महाराजा हरिश्चन्द्र, अवध के उस छत्रमय राज्यसिंहासन पर बैठाये गये, जो इनके बिना खाली पड़ा रहता था। विश्वामित्र ने, राजा के हाथ में राज्य-दण्ड दिया। सब लोग, महाराजा हरिश्चन्द्र, महारानी तारा और कुमार रोहित की जय बोलने लगे, तथा बन्दी लोग उनका यश गाने लगे। विविध प्रकार के वाद्यों से, सारा नभ गूँज उठा। सब लोगों ने यथा विधि भेंट प्रस्तुत की ओर महाराजा हरिश्चन्द्र ने सबका उचित आदर सत्कार किया।

राज्याभिषेक के तत्कालीन सब कार्य निबट जाने पर, सब लोगों की उपस्थिति में सभा के मध्य खड़े होकर, इन्द्र कहने लगे– एक दिन वह था, जब कि मैंने अपनी सभा में महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्य की

प्रशंसा की थी और एक दिन आज है, जब कि मैं उनके सन्मुख ही उनकी प्रशंसा करने के लिए खड़ा हुआ हूँ। उस समय मैंने जो प्रशंसा की थी वह उसी प्रकार की थी, जैसे सोने को केवल रंग रूप देखकर सोना कहनाऔर आज जो प्रशंसा कर रहा हूँ वह वैसी है जैसे सोने को तपाकर, कूटकर और काटकर परीक्षा करने के बाद सोना कहना। आज जो प्रशंसा कर रहा हूँ। वह महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्य की परीक्षा हो जाने के बाद कर रहा हूँ। यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि महाराजा हरिश्चन्द्र अपने कर्त्तव्य मार्ग पर महारानी तारा की सहायता से ही स्थिर हो सके हैं और उन्हीं की सहायता से वे सत्यपालन में समर्थ हुए हैं, और उन्हीं की सहायता से वे सत्यपालन में समर्थ हुए है, लेकिन साथ ही यह भी मुझे मालूम है कि भारत की स्त्रियां अपने पति के होते हुए अपनी प्रशंसा की इच्छुक नहीं रहती। वे जो कुछ भी सद्कार्य करती हैं, उसका श्रेय पति को ही देती है और पति की प्रशंसा से ही प्रसंन्न रहतीं तथा पति की प्रशंसा को अपनी ही प्रशंसा समझती है। इसीलिए मैं महारानी तारा की प्रशंसा पृथक न करके केवलउन महाराजा हरिश्चन्द्र की ही प्रशंसा करता हूँ जिनकी वे अर्द्धांगिनी है।

महाराजा-हरिश्चन्द्र के विषय में कुछ कहने से पहले मैं इस भरत भूमि और विशेषतः इस अयोध्या की भूमि को धन्यवाद देता हूँ जिसमें महाराजा हरिश्चन्द्र ऐसे सत्यधारी राजा विराजते हैं और जिनकी प्रजा सत्यपालन में उनका अनुकरण करती है। इस भारत और अयोध्या की भूमि की जितनी प्रशंसा की जाय, वह कम है।

महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्यपालन की महिमा, पूर्णरूप से वर्णन करने को तो यद्यपि मैं समर्थ नहीं हूँ तथापि इतना तो मैं कहना ही चाहता हूँ कि महाराजा हरिश्चन्द्र ने धर्म का मर्म समझकर ही इतनी कष्ट सहन रूप तपस्या की है। इन पर जैसे-जैसे संकट पड़े हैं

साधारण मनुष्य तो उनकी सुनकर भी घबरा जायेगा। परन्तु ये उन कष्टों को धैर्यपूर्वक सहते रहे और अपने सत्य से विचलित न हुए। यही कारण है कि आज मनुष्यलोक में ही नहीं किन्तु देवलोक में भी इनके सत्य के साथ-ही-साथ इनकी भी प्रशंसा हो रही है। आज सारा संसार इनके सत्य की सराहना कर रहा है। यदि महाराजा हरिश्चन्द्र के समान सत्यधारी राजा न होते तो मैं नहीं कह सकता कि देवलोक में देवतालोग सत्य के लिए किसका आदर्श सन्मुख रखकर सत्य के गीत गाते। महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्य पर मुग्ध होकर मेरा हृदय यही कहता है कि सत्यरहित राजत्व की अपेक्षा ऐसे सत्यधारी का, दासत्व भी कई गुना श्रेष्ठ है। सत्यरहित राज्य नर्क की ही प्राप्ति करावेगा, लेकिन सत्यरहित दासत्व, आत्मा को उन्नतावस्था में पहुँचावेगा।

अन्त में, मैं आशीर्वाद देता हूँ कि महाराजा-हरिश्चन्द्र और इनके सत्य की कीर्ति वैसी ही अनन्त और अटल बनी रहे, जैसा अनन्त और अटल आकाश है। जिस सत्य पर विश्वास करते महाराजा हरिश्चन्द्र ने इतने कष्ट सहे हैं, और जिस सत्य के प्रताप से आज इनकी कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रही है, उस सत्य पर विश्वास करने वाले और उस सत्य के पालन में कष्ट से भयभीत न होनेवाले लोग, निश्चय ही शुभगति को प्राप्त होंगे।

इस प्रकार सत्य और हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करके, हरिश्चन्द्र से विदा माँगकर इन्द्रादि सब देवता तो देवलोक को गये और विश्वामित्र वन को चले गये।

राज्य और दीक्षा :

संसार का नियम है कि इच्छित वस्तु के प्राप्त होने पर हृदय को अपार आनन्द होता है। इसी के अनुसार आज, महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा के प्राप्त होने से प्रजा को भी अपूर्व आनन्द है। इस

आनन्द से सारा नगर प्रफुल्लित हो उठा और वहाँ के निवासी कई दिन तक उत्सव मनाते रहे।

सब लोगों को बिदा करके, महाराजा-हरिश्चन्द्र राज-कार्य में संलग्न हुए। राज्य में महाराजा हरिश्चन्द्र के नाम का ढिंढोरा पिट जाने तथा उनकी गगन-स्पर्शी ध्वजा के उड़ने से चोर लम्पटादि उसी प्रकार छिप गये जैसे सूर्योदय से तारे। सब लोग, अपने-अपने कर्त्तव्य का पूर्ववत् पालन करने लगे और सत्य-पालन के लिए अपनी राजा को आदर्श मान, सत्य में दृढ़ रहने लगे। थोड़े ही दिनों में सारी प्रजा पुनः सुख-समृद्धि-सम्पन्न हो गई।

यद्यपि अयोध्या का राज्य पूर्ववत् ही महाराजा हरिश्चन्द्र के अधिकार में आ गया, लेकिन महाराजा हरिश्चन्द्र ने राज्य की आय से स्वयं किंचित् भी लाभ नहीं उठाया। वे अपने तथा रानी के भरण-पोषण के लिए पृथक् उद्योग करते और उसी से अपने खाने-पाने आदि का कार्य चलाते।

महाराज हरिश्चन्द्र ने, अत्यन्त न्याय-पूर्वक राज्य किया। उनके राज्य में, अन्याय का तो कोई नाम भी न जानता था। न्यायपूर्वक राज्य करनेवाले राजा की प्रजा सुखी रहती ही है, अतः महाराजा हरिश्चन्द्र की प्रजा भी सुखी थी। कहीं भी दुर्भिक्ष या महामारी का नाम सुनाई नहीं देता था। उनका राज्य, मानों मूर्तिमान् शान्ति था। उनकी प्रजा यह नहीं जानती थी, कि दरिद्रता का दुःख कैसा होता है। प्रायः मनुष्यों की आर्थिक स्थिति अच्छी ही थी। सब जीव ऐसे रहते थे, कि कोई भी किसी को न सताता था।

महाराजा हरिश्चन्द्र के राज्य में, अतिवृष्टि या अनावृष्टि नहीं होती थी, समय-समय पर आवश्यकतानुसार वर्षा हुआ करती थी। सुगन्धयुक्त शीतल-पवन, मन्द-मन्द गति से बहा करता था। सूर्य, मर्यादा के अनुसार ही तपता था, न्यूनाधिक नहीं। पृथ्वी सदा हरियाली-

पूरित रहती थी, और प्रजा के लिए उत्तमोत्तम अन्न दिया करती थी। वन के वृक्ष, फलफूलों से लदे ही रहते। गौ आदि दुधारू-पशु, दूध और धृत से प्रजाजनों को सदा प्रसन्न रखते। नदियां, प्रजा को सुख पहुँचाती हुई ऐसी बहतीं, मानों अमृत लेकर बह रही हों। समुद्र समय-समय पर मणि-मुक्तादि इस प्रकार अपने किनारे डाला करता, जैसे प्रजा को उनकी सद्भावनाओं का पुरुस्कार देता हो। सारांश यह, कि महाराजा हरिश्चन्द्र का राज्य, बड़ा ही सुख दायक था! दशों दिशाओं में आनन्द इस प्रकार व्याप्त था, मानों वह महाराजा हरिश्चन्द्र और उनकी प्रजा के अधीन हो।

पहले के लोग अपनी सारी आयु को संसार के भ्रमजाल में ही नहीं बिताते थे, अपितु आयु का एक भाग आत्मकल्याण में भी लगाते थे। वैसे तो गृहस्थी में रहते हुए भी, वे आत्मकल्याण की ओर ले जाने वाले कार्य किया करते थे, परन्तु आयु का अन्तिम भाग, निरन्तर इसी कार्य में लगा दिया करते थे। इसी लिये उन्होंने आयु को चार भागों में विभक्त कर रक्खा था। आयु के प्रथम भाग में वे ब्रह्मचर्य पालन के साथ विद्योपार्जन किया करते थे। दूसरे भाग में गृहस्थी के कार्यों का बोझ अपने ऊपर लेकर गृहस्थाश्रम का संचालन करते थे। तीसरे भाग में संसार त्याग का अभ्यास करते थे और चौथे भाग में संसार से विरक्त हो ईश्वर-भजन में तल्लीन हो जाते थे। इन नियमों का पालन न करने वाला अधम माना जाता था और सब लोग उसे घृणा की दृष्टि से देखते थे। इसलिए सब लोग, सन्तान के गृहस्थी का भार वहन करने के योग्य होते ही, गृहस्थाश्रम का त्याग करके विरक्त हो जाते थे। घर में रहकर, सांसारिक कार्यों में उलझे हुए ही मरना, एक लज्जास्पद और कायरोचित-बात मानी जाती थी। उनका सिद्धान्त था :—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया।
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयमून्।।

त्यजन्तः स्वातन्त्रयादतुल परितापाय मनसः।
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसूखमनन्तं विदघति।।

अर्थात्—विषयों को हम चाहे कितना भोगें, चाहे अलग हो जावेंगे; तब हम स्वयं अपनी इच्छा से ही उन्हें क्यों न छोड़ दे? क्योंकि जब वे विषय हमको छोड़ेगे, तब हमें बड़ा दुःख और मनको क्लेश होगा और यदि हम उनको छोड़ देंगे, तो हमें अनन्त सुख और शान्ति प्राप्ति होगी।

महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा की, युवावस्था व्यतीत हो चुकी थी। यद्यपि तेजस्वी होने के कारण युवावस्था के अवसान के कोई चिन्ह इनके शरीर पर दिखाई न देते थे, तथापि ये लोग आज के लोगों की तरह न थे, जो बुढ़ापे को जवानी मानकर गृहस्थी में ही फँसे रहते। इन्द्रियों में किंचित् भी शिथिलता आने को उस समय के लोग वृद्धावस्था का नोटिस समझते और जहाँ आज के लोग शिथिल इन्द्रियों को पुनः जाग्रत करने तथा श्वेतकेशों को पुनः श्याम बनाने के लिए औषधियों का प्रयोग करते हैं वहाँ उस समय के लोग गृहस्थी छोड़कर तपस्या में तल्लीन हो जाते थे। इसी के अनुसार महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा ने भी गृह-त्याग का विचार किया। इधर रोहित भी बड़े हो चुके थे। राजकार्य सम्हालने की योग्यता उनमें भी आ चुकी थी। महाराजा हरिश्चन्द्र ने रोहित के बड़े होने तक के लिए ही राज्य करना स्वीकार किया था और अब इसके अनुसार भी उन्होंने राज्य-त्याग करना उचित समझा।

राज्य-त्याग का विचार करके, महाराजा हरिश्चन्द्र ने, रोहित के राज्याभिषेक की तैयारी करवाई। अपने प्रिय राजा-रानी के विचारों से प्रजा भी सहमत हुई और प्रजावर्ग के बहुत से स्त्री-पुरुष, राजा-रानी के इस कार्य का अनुकरण करने को तैयार हुए।

यथा राजा तथा प्रजा इस कहावत के अनुसार प्रजा उन कार्यों

को विशेष रूप से अपनाती है, जिन्हें राजा करता है। मनुष्य स्वभाव से ही अनुकरण शील होता है। उसमें भी फिर राजा का अनुकरण करना तो प्रजा अपने लिये गौरव की बात समझती है। राजा के प्रत्येक-कार्य का प्रजा अनुकरण करने लगती है, फिर चाहे वे कार्य अच्छे हो या बुरे। कौन सा कार्य अच्छा अथवा बुरा है, इस बात के विचार का भार राजा के ऊपर समझकर जिन कार्यों को राजा करता है, उन्हें करने में प्रजा किंचित भी नहीं हिचकिचाती। कार्य की अच्छाई-बुराई पर विचार करने बुद्धि प्रजा-जनों में से बहुत कम लोगों में होती है। इसलिए पहले के राजालोग प्रत्येक कार्य ऐसे रूप में करते थे, जिनका अनुकरण करने से प्रजा को किसी प्रकार की हानि न हो; हाँ, लाभ अवश्य हो। झूठ व्यभिचार, हिंसा मादकता आदि बुरे कामों को वे अपने पास भी न फटकने देते थे। यहीं कारण था कि राजा के कार्यों का अनुकरण करने पर प्रजा इहलौकिक आनन्द प्राप्त करने के साथ ही पारलौकिक आनन्द भी प्राप्त करती थी।

निश्चित समय पर महाराजा हरिश्चन्द्र ने राज्यासन पर कुमार रोहित को बैठाकर उनका राज्याभिषेक किया। कुमार रोहित के राजा होने से सारी प्रजा प्रसन्न हो उठी और महाराजा हरिश्चन्द्र की प्रशंसा करने लगी। राज्याभिषेक की समस्त विधियां निबट जाने पर रोहित को राजदण्ड सौंपते हुए महाराजा हरिश्चन्द्र कहने लगे— आज बड़े हर्ष की बात है, कि मैं राज्य और गृहस्थी का भार कुमार रोहित को सौंप, महारानी तारा सहित इस कार्य से मुक्त होकर, शेष जीवन ईश्वर भजन में व्यतीत करने के लिए वन को जा रहा हूँ। रोहित यद्यपि स्वयं एक चतुर और प्रजा प्रिय शासक सिद्ध होंगे, तथापि पिता होने के कारण मेरा कर्तव्य है, कि मैं इन्हें सिखाने के लिए कुछ कहूँ। इस लिए मैं रोहित को अपनी ओर से यह शिक्षा देता हूँ कि राजा के लिये प्रजा पुत्रवत् है। जिस प्रकार पुत्र के सुख-दुःख आदि का ध्यान रखना तथा

दुःख दूर करके उसे सुख पहुँचाना पिता का कर्त्तव्य है, इसी प्रकार राजा का भी कर्तव्य है, कि वह प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता रखकर, उसका दुःख दूर करे। जो राजा अपनी प्रजा का दुःख दूर करने में असमर्थ होता है, या इस ओर उपेक्षा भाव रखता है वह अयोग्य समझा जाता है। इस लिये राजा को प्रजा का दुःख दूर करने में कदापि शिथिलता न करनी चाहिए। प्रजा के सुखी रहने पर ही राजा सुखी रह सकता है; अन्यथा कदापि सुखी नहीं रह सकता। इसके सिवा, प्रत्येक व्यक्ति का दान मान से सम्मान करना भी राजा का कर्तव्य है। जो राजा, दान करना और अपने आने जानेवाले का सम्मान करना नहीं जानता वह भी अयोग्य माना जाता है।

अन्त में मैं यही करता हूँ कि राज्य चाहे चला जाये, परन्तु सत्य और धर्म को कदापि हाथ से न जाने देना। सत्य और धर्म के रहने पर और सब वस्तुएँ फिर प्राप्त हो सकती है; परन्तु इनके न रहने पर ये संसार की जड़ वस्तुएं किसी काम की नहीं है। बिना सत्य और धर्म के ये सांसारिक-वस्तुएँ इस लोक में तो दुःखदाता होंगी ही परन्तु परलोक में भी दुःखदाता ही होंगी।

मैं प्रजा को रोहित के और रोहित को प्रजा के हाथों सौंप रहा हूँ। आशा है कि दोनों एक दूसरे से सहयोग रखकर, सत्य धर्म पूर्वक राज्य की व्यवस्था करेंगे।

राजा का कथन समाप्त होते ही, प्रजा ने हर्ष-पूर्वक हरिश्चन्द्र तारा और रोहित की जय ध्वनि की। महल से निकलकर प्रजा सहित महाराजा हरिश्चन्द्र रोहित और महारानी तारा नगर के बाहर आये। महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा का अनुकरण करने के लिए अनेक स्त्री पुरुष भी अपनी गृहस्थी छोड़कर इनके साथ हो लिए थे।

नगर के बाहर आकर अनेक स्त्री पुरुषों के साथ महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा ने दीक्षा धारण की। महाराजा रोहित

तथा प्रजा, इनके राजसी वेश को साधुओं के वेश में परिणत देख इनकी जय-ध्वनि करने तथा इन्हें धन्यवाद देने लगी। इस प्रकार वैराग्य वेश धारण करके, अपने सहयोगी स्त्री-पुरुषों सहित महाराजा हरिश्चन्द्र और महारानी तारा दो भागों में विभक्त होकर, वन को चल दिये। वन में पहुँचकर दोनों ने खूब तपस्या की। शुक्ल-ध्यान को ध्याकर दोनों ने केवल ज्ञान प्राप्त किया और अन्त में सिद्धगति को प्राप्त हुए।

माता-पिता आदि को, वन की ओर विदा करके, प्रजा सहित महाराजा रोहित नगर को आये। प्रजा महाराजा रोहित के राज्याभिषेक और महाराजा हरिश्चन्द्र आदि के दीक्षा धारण करने के उपलक्ष्य में कई दिन तक आनन्दोत्सव मनाती रही। महाराजा हरिश्चन्द्र के पश्चात्, महाराजा रोहित, अपने पिता की ही तरह सत्य और धर्म की रक्षा करते हुए न्यायपूर्वक राज्य करने लगे। इन्होंने भी ऐसा अच्छा शासन किया, कि प्रजा को महाराजा हरिश्चन्द्र के राज्य त्याग से किंचित भी दुःख न हुआ।

——समाप्त——

JAIN BHAWAN PUBLICATIONS

P-25, Kalakar Street, Kolkata - 700 007, Phone: 2268 2655

English :

1.	Bhagavati-sutra-Text edited with English translation by K. C. Lalwani in 4 volumes:		
	Vol - 1 (satakas 1- 2)	Price : Rs.	150.00
	Vol - 2 (satakas 3- 6)		150.00
	Vol - 3 (satakas 7- 8)		150.00
	Vol - 4 (satakas 9- 11)		150.00
2.	James Burges - The Temples of Satrunjaya. Jain Bhawan. Kolkata ; 1977. pp. x+82 with 45 plates (It is the glorification of the sacred mountain Satrunjaya.)	Price : Rs.	100.00
3.	P. C. Samsukha - Essence of Jainism translated by Ganesh Lalwani.	Price : Rs.	15.00
4.	Ganesh Lalwani - Thus Sayeth Our Lord,	Price : Rs.	15.00
5.	Verses from Cidananda Translated by Ganesh Lalwani	Price : Rs.	15.00
6.	Ganesh Lalwani - Jainthology	Price : Rs.	100.00
7.	Lalwani and S. R. Banerjee- Weber's Sacred Literature of the Jains	Price : Rs.	100.00
8.	Prof. S. R. Banerjee Jainism in Different States of India	Price : Rs.	100.00
9.	Prof. S. R. Banerjee Introducing Jainism	Price : Rs.	
10.	Smt. Lata Bothra- The Harmony Within	Price : Rs.	100.00
11.	Smt. Lata Bothra- From Vardhamana- to Mahavira	Price : Rs.	100.00
12.	Smt. Lata Bothra- An Image of- Antiquity	Price : Rs.	100.00

Hindi :

1.	Ganesh Lalwani - Atimukta (2nd edn) Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	40.00
2.	Ganesh Lalwani - Sraman Samskriti Ki Kavita, Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	20.00
3.	Ganesh Lalwani - Nilanjana, Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	30.00
4.	Ganesh Lalwani - Chandan-Murti Translated by Shrimati Rajkumari Begani	Price : Rs.	50.00
5.	Ganesh Lalwani-Vardhaman Mahavira	Price : Rs.	60.00

6. Ganesh Lalwani-Barsat ki Ek Raat, Price : Rs. 45.00
7. Ganesh Lalwani -- Panchdasi. Price : Rs. 100.00
8. Rajkumari Begani-Yado ke Aine me. Price : Rs. 30.00
9. Dr. Lata Bothra - Bhagavan Mahavira Aur Prajatantra Price : Rs. 15.00
10. Dr. Lata Bothra - Sanskriti Ka Adi Shrote, Jain Dharm Price : Rs. 24.00
11. Prof. S.R. Banerjee - Prakrit Vyakarana Praveshika Price : Rs. 20.00
12. Dr. Lata Bothra - Adinath Risabdev Aur Asthapad Price : Rs. 250.00
13. Dr. Lata Bothra - Astapad Yatra Price : Rs. 50.00
14. Dr. Lata Bothra - Aatm Darsan Price : Rs. 50.00
15. Dr. Lata Bothra - Varanbhumi Bengal Price : Rs. 50.00
16. Dr. Lata Bothra - Tatva Bodh Price : Rs.

Bengali :

1. Ganesh Lalwani-Atimukta, Price : Rs. 40.00
2. Ganesh Lalwani-Sraman Sanskriti ki Kavita Price : Rs. 20.00
3. Puran Chand Shymsukha-Bhagavan Mahavir O Jaina Dharma. Price : Rs. 15.00
4. Prof. Satya Ranjan Banerjee Prasnottare Jaina-Dharma Price : Rs. 20.00
5. Dr. Jagatram Bhattacharya Das Baikalik Sutra Price : Rs. 25.00
6. Prof. Satya Ranjan Banerjee Mahavir Kathamrita Price : Rs. 20.00
7. Sri Yudhishthir Majhi Sarak Sanskriti O Puruliar Purakirti Price : Rs. 20.00

Some Other Publications :

1. Dr. Lata Bothra - Vardhamana Kaise Bane Mahavir Price : Rs. 15.00
2. Dr. Lata Bothra - Kesar Kyari Me Mahakta Jain Darshan Price : Rs. 10.00
3. Dr. Lata Bothra - Bharat Me Jain Dharma Price : Rs. 100.00
4. Acharya Nanesh - Samata Darshan Aur Vyavhar (Bengali) Price : Rs.
5. Shri Suyesh Muniji - Jain Dharma Aur Shasnavali (Bengali) Price : Rs. 50.00
6. K.C.Lalwani - Sraman Bhagwan Mahavira Price : Rs. 25.00

मोह रहित मनुष्य दुःख मुक्त है।

B.C. JAIN JEWELLERS
Since 1926

B.C. JAIN JEWELLERS PVT. LTD.

22, Camac Street
3rd floor, Block-A
Kolkata - 700 017
Phone : 2283-6203/6204/0056
Fax : 2283-6643
Resi : 2358-6901,2359-5054

TITTHAYARA
Vol XXXV No.05
25th August 2011

Registered
No. KOL.RMS / 070/2010-12
R.N.I. 30181/77

सभी प्राणियों के लिये मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ होता है,
क्योंकि बुरे कर्मों का फल निश्चय ही मिलता है
अतः मनुष्य को क्षण भर भी प्रमाद न कर
शुभ कार्यों में तत्पर रहना चाहिये।

Kamal Singh Rampuria

Rampuria Mansions
17/3, Mukhram Kanoria Road, Howrah
Phone No. : 2666-7212/7225